जैनदर्शन में आगम (श्रुत) प्रमाण

सुश्री डॉ० हेमलता बोलिया एम. ए. पी-एच. डी

जैनदर्शन में प्रमाण चर्चा सर्वप्रथम उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र में देखने को मिलती है। जैन आगमिक परम्परा में ज्ञान के पाँच भेद—(मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान) उपलब्ध हैं।[1] वहाँ इन पाँच ज्ञानों को पुनः दो भागों में विभाजित किया गया है। यथा—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का कहा गया है—(१) केवलज्ञान और (२) नोकेवलज्ञान। नोकेवलज्ञान के पुनः दो भेद किये गये हैं—(१) अवधि और (२) मनःपर्यय। तथा परोक्षज्ञान भी दो प्रकार से वर्णित है—(१) आभिनिबोधिक (मति) और (२) श्रुतज्ञान।[2]

इन्हीं पाँच ज्ञानों को उमास्वाति ने प्रमाण कहा है। अर्थात् इनकी दृष्टि में ज्ञान ही प्रमाण है।[3] इन्होंने मति ज्ञान के ही पर्याय स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध बतलाये हैं।[4] इस प्रकार उमास्वाति ने अपने समय में प्रचलित स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान प्रमाणों का अन्तर्भाव मतिज्ञान में करके जैन क्षेत्र में प्रमाणपद्धति को आगे बढ़ाया किन्तु प्रमाणशास्त्र की व्यवस्थित रूपरेखा भट्ट अकलंकदेव के समय से ही प्रारम्भ होती है। यद्यपि जिनभद्रगणि[5] ने मन और इन्द्रिय की सहायता से होने वाले मतिज्ञान को परोक्ष की परिधि से निकालकर तथा सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष नाम देकर प्रत्यक्ष की परिधि में सम्मिलित किया। जिससे जैनेतर दार्शनिकों से इन्द्रियजन्य ज्ञान को परोक्ष न मानने का जो विवाद था वह समाप्त हो गया। फिर भी प्रमाणशास्त्र की व्यवस्थित रूपरेखा स्थापित करने का श्रेय भट्ट अकलंकदेव को ही प्राप्त है। इन्होंने भी तत्त्वार्थसूत्र के **तत्प्रमाणे** सूत्र को आदर्श मानकर अपने लघीयस्त्रय[6] नामक ग्रन्थ में प्रमाण विभाग इस प्रकार किया है—

- प्रमाण
  - प्रत्यक्ष
    - सांव्यावहारिक प्रत्यय
    - मुख्य प्रत्यय
  - परोक्ष
    - स्मृति
    - प्रत्यभिज्ञान
    - तर्क
    - अनुमान
    - आगम

यद्यपि अकलंक के ग्रन्थों के प्रमुख टीकाकार अनन्तवीर्य और विद्यानन्दी को स्मृति आदि को अतीन्द्रियप्रत्यक्ष मानना अभीष्ट नहीं हुआ फिर भी समस्त उत्तरकालीन जैन दार्शनिकों ने अकलंक द्वारा प्रतिष्ठापित प्रमाण-पद्धति को एक स्वर से स्वीकार किया है।

आगम या श्रुत प्रमाण

अन्य दर्शनों में मान्य शब्द प्रमाण ही जैनदर्शन में आगम या श्रुत प्रमाण के नाम से जाना जाता है किन्तु जैनाचार्यों में सिद्धर्षि ही ऐसे हैं जिन्होंने सर्वप्रथम आगम प्रमाण के स्थान पर शब्द प्रमाण शब्द का प्रयोग किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रुतज्ञान (प्रमाण) शब्द जैनदर्शन की अपनी मौलिक देन है। यह जिस रूप में जैनदर्शन में पाया जाता है, उस रूप में अन्य दर्शनों में नहीं पाया जाता है। फिर भी श्रुतज्ञान एवं शब्दप्रमाण शब्दों में कोई विशेष अन्तर नहीं है क्योंकि दोनों में ही शब्द की प्रधानता है, यह आगे के विवेचन से स्पष्ट हो जायेगा।

जैनाचार्यों के अनुसार आप्तवचन से आविर्भूत होने वाला अर्थ-संवेदन आगमप्रमाण है। साथ ही इनका यह भी कहना है कि यदि अन्य दार्शनिक यह आशंका करें कि जब अर्थ का संवेदन आगम है तो वह आप्तवचनात्मक ही कैसे हो सकता है ? तो प्रत्युत्तर में इनका कहना है कि उपचार से वचन भी आगम है।[७]

माणिक्यनन्दी आप्त के वचन एवं संकेत आदि के निमित्त से होने वाले ज्ञान को आगम कहते हैं।[८]

उक्त दोनों परिभाषाओं में कोई विशेष अन्तर नहीं है। केवल माणिक्यनन्दी ने लक्षण में आदि पद से संकेत आदि ग्रहण विशेषरूप से किया है।

सिद्धसेन दिवाकर के अनुसार वक्ता के दृष्ट और इष्ट के अविरोधी वाक्य से तथा तत्त्वग्राहिता से उत्पन्न वाक्य शब्द-प्रमाण हैं।[९]

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि आप्त के वचन से उत्पन्न हुआ पदार्थ का ज्ञान 'आगमप्रमाण' है और उपचार से आप्त के वचन को भी आगमप्रमाण कहते हैं। इस बात में तो सभी जैनाचार्य एकमत हैं, किन्तु आप्त के स्वरूप के विषय में उनके परस्पर भिन्न-भिन्न मत हैं।

आप्त का स्वरूप

कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने नियमसार नामक ग्रन्थ में आप्त के स्वरूप को बतलाते हुए लिखा है कि—'जिसके समस्त दोष दूर हुए हैं ऐसा जो सकलगुणमय पुरुष है वह आप्त है।[१०] इसके विपरीत जिसके समस्त दोष दूर नहीं हुए हैं ऐसा जो सकलगुणहीन पुरुष है वह अनाप्त है।

नियमसार की टीका करते हुए पद्मप्रभमलधारि ने भी लिखा है कि 'जो शंका रहित है वह आप्त है। इसके विपरीत जो शंका से युक्त है वह अनाप्त है।[११]

समन्तभद्र का कहना है कि जो दोषों को नष्ट कर चुका है, सर्वज्ञ और आगमेशी अर्थात्—हेयोपादेयरूप अनेकान्त तत्व के विवेकपूर्वक आत्महित में प्रवृत्ति करने वाले अबाधित सिद्धान्तशास्त्र का स्वामी अर्थात् आगम का स्वामी है वह नियम से आप्त होता है, दूसरे प्रकार से आप्तता नहीं हो सकती है।[१२] साथ ही इनका यह भी कहना है कि जिसमें क्षुधा, प्यास, बुढ़ापा, रोग, जन्म, मरण, भय, मद, राग, द्वेष, मोह और च शब्द द्वारा सूचित चिन्ता, अरति, निद्रा, विस्मय, विवाद, खेद, और स्वेद—ये अठारह दोष नहीं वह आप्त है और उसे निर्दोष कहते हैं।[१३]

समन्तभद्र का यह भी कहना है कि जिसमें निर्दोषिता, सर्वज्ञता और आगमेशिता इसमें से यदि एक गुण भी नहीं है तो वह आप्त भी नहीं है। इनके अनुसार तो आप्त में तीनों गुणों का होना आवश्यक है। इस प्रकार सर्वज्ञ, अर्हन्त और तीर्थंकर आदि ही आप्त हो सकते हैं। क्योंकि ये तीनों गुण तो उन्हीं में पाये जाते हैं। वैसे भी स्वयं समन्तभद्र ने अपनी आप्तमीमांसा में अर्हन्त के विषय में कहा है कि 'अर्हन्त ही आगम का स्वामी है, जिसकी सर्वज्ञता के कारण उसके वचनों में युक्ति और शास्त्र में किसी प्रकार का विरोध नहीं आता है। वही राग-द्वेषादि दोनों से सर्वथा रहित अर्थात् निर्दोष है और उसके द्वारा ही माने गये तत्व प्रमाणों से बाधित नहीं होते हैं।[१४]

समन्तभद्र के समान अकलंकदेव ने भी अर्हन्त को ही सर्वज्ञ कहा है। इनके अनुसार अर्हन्त ही सर्वज्ञ हैं, इनके अतिरिक्त दूसरे न्याय और आगम के विरुद्ध कथन करते हैं ?[१५]

हेमचन्द्राचार्य ने भी अर्हन्त को ही अपने आत्मनिश्चयालंकार में सर्वज्ञ कहा है। इनके अनुसार जो सर्वज्ञ अर्थात् सब कुछ जानता है, रागादि दोषों को जीत चुका हो, जो तीन लोकों में पूजित हो, वस्तुएँ जैसी हैं उन्हें वैसी ही कहता हो, वही परमेश्वर अर्हत् देव है।[१६]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि जो सर्वज्ञ होता है वही सभी दोषों से रहित और आगम का स्वामी होता है। क्योंकि निर्दोषिता के बिना सर्वज्ञता सम्भव नहीं और सर्वज्ञता के बिना आगमेशिता नहीं हो सकती है। इसलिए तीर्थंकर आदि ही आप्त, सिद्ध होते हैं, क्योंकि ये तीनों गुण इनमें विद्यमान हैं। तीर्थंकर, अर्हन्त आदि को आप्त मानने के विषय में सभी जैनाचार्य परस्पर सहमत हैं। साथ ही इनका यह भी कहना है कि उक्त तीन गुणों से युक्त जो आप्त हैं, उनका बहुविध नामों से कीर्तन या स्मरण किया जाता है। जिनमें से कुछ नाम तो समन्तभद्र ने अपने रत्नकरण्ड उपासकाध्ययन में इस प्रकार गिनाये हैं। इनका कहना है कि ऊपर वर्णित स्वरूप को लिए हुए जो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आप्त हैं वह परमेष्ठी अर्थात् परम पद में स्थित, परमज्योति, विराग (रागादिभावकर्म रहित), विमल, कृती, सर्वज्ञ, अनादिमध्यान्त (आदि, मध्य और अन्त से शून्य) सार्व अर्थात् सर्वमय और शास्ता अर्थात् यथार्थ तत्वोपदेशक इन नामों से उपलक्षित होता है।[१७] समन्तभद्र के अनुसार ये आठों नाम आप्त के बोधक हैं।

किन्तु अकलंकदेव को आप्त का इतना ही लक्षण अभीष्ट नहीं है। इन्होंने अपनी अष्टशती में आप्त का व्यापक अर्थ में एक-दूसरा लक्षण भी किया है। जिसके अनुसार जो जहाँ अर्थात् जिस विषय में अविसंवादक है वह वहाँ या जिस विषय में आप्त है, अन्यत्र अनाप्त है। आप्तता के लिए तद्विषयक ज्ञान और अविसंवादकता आवश्यक है।[१८]

वादिदेवसूरि[१९] और हरिभद्र[२०] के अनुसार जो व्यक्ति जिस वस्तु का कथन करता है उसे यथार्थरूप से जानता हो तथा जिस प्रकार उसे जाना है ठीक उसी रूप में उसका कथन करता है तो वह आप्त कहा जाता है जैसे माता-पिता और तीर्थंकर आदि, क्योंकि इनका ही वचन अविसंवादी होता है। जैसे यहाँ धन गड़ा है, मेरू पर्वत है इत्यादि वाक्यों के अर्थ को पिता और तीर्थंकर अच्छी प्रकार से जानते हैं। अतः वे उक्त वाक्यों के आप्त हैं।

रत्नप्रभाचार्य के अनुसार जिससे कहा हुआ अर्थ ग्रहण किया जाता है वह आप्त है या जिसमें राग-द्वेषादि दोषों का क्षय हो चुका है वह आप्त है और इनका यह भी कहना है कि अशादि गण से बने आप्त शब्द का भी यही अर्थ है। रत्नप्रभाचार्य का यही कहना है कि जो पुरुष रागादि दोषों से युक्त है वह आप्त से भिन्न अर्थात् अनाप्त है क्योंकि वह पदार्थों को जानता हुआ भी इन पदार्थों का अन्यथा रूप से कथन करता है, जैसे कि पदार्थ-ज्ञान से रहित व्यक्ति करता है। साथ ही इनका यह भी कहना है कि यदि कोई अक्षर लेखन के द्वारा, संख्या के निर्देश से, अपने कर पल्लव आदि की चेष्टा विशेष से अथवा शब्द स्मरण करने से परोक्षार्थ विषयक ज्ञान को दूसरे को करा सकता है तो वह भी आप्त कहा जाता है।[२१]

लघुअनन्तवीर्य ने भी अकलंक के समान ही आप्त का व्यापक अर्थ किया है किन्तु इन्होंने अविसंवादी के स्थान पर अवंचक शब्द का प्रयोग किया है। इनके अनुसार जो जहाँ अवंचक है, वह वहाँ आप्त है।[२२] यहाँ अवंचक से अभिप्राय यह है कि जो छल-कपट से रहित है अर्थात् निष्कपटी है और निष्कपटी वही हो सकता है जिसमें रागादि दोष नहीं है। अतः जो रागादि दोषों से रहित है वह अवंचक है और यह अवंचक पद यहाँ उपलक्षण है।

भावसेनत्रैविद्य ने भी आप्त का लक्षण लघुअनन्तवीर्य के समान ही किया है। किन्तु इन्होंने यों यत्राभिज्ञत्व यह विशेषण अधिक जोड़ दिया है। इनके अनुसार जो जिस विषय को जानता है और सत्य अवंचक है, वह वहाँ आप्त है।[२३]

यशोविजय के अनुसार वस्तु जैसी है उसको उसी रूप में जो जानता है और हितोपदेश-प्रवण है, वह आप्त है।[२४]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि आप्त दो प्रकार के है—(१) लौकिक और (२) लोकोत्तर।[२५] लौकिक आप्त जनक आदि और लोकोत्तर आप्त तीर्थंकर आदि हैं।[२६]

आगम प्रमाण के भेद

आप्त के दो प्रकार होने से आगमप्रमाण भी दो प्रकार का है—(१) लौकिक और (२) लोकोत्तर। सिद्धर्षि ने लोकोत्तर के स्थान पर शास्त्रज्ञ शब्द प्रमाण माना है किन्तु लोकोत्तर और शास्त्रज्ञ में कोई विशेष अन्तर नहीं है। (भेद की दृष्टि से जैनदर्शन का अन्य भारतीय दर्शनों से साम्य ही है, क्योंकि अन्य भारतीय दर्शनों में भी शब्द प्रमाण के दो ही भेद किये गये हैं।)

(१) लौकिक

अपने विषय में अविसंवादी और अवंचक आप्त के वचनों से जो अर्थबोध होता है वह लौकिक आगम प्रमाण है।

(२) लोकोत्तर

यह लोकोत्तर आगम प्रमाण अंगप्रविष्ट और अंगबाह्यरूप से दो प्रकार का है। साक्षात् तीर्थंकर जिस अर्थ को अपनी पवित्र वाणी से प्रकट करते हैं और गणधर जिसका सूत्र रूप में ग्रथन करते हैं उसे अंगप्रविष्ट कहते हैं। आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकदशांग, अन्तकृत्दशा, अनुत्तरौपपातिक-दशा, प्रश्नव्याकरण विपाकसूत्र और दृष्टिवाद आदि के भेद से बारह प्रकार का है तथा जो गणधर परम्परा के आचार्यों के द्वारा शिष्य के हितार्थ जो रचा जाता है, वह अंगबाह्य है। वह दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्प व्यवहार, कल्पाकल्प,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहाकल्प आदि के भेद से अनेक प्रकार का है। यह अंगबाह्य अंगप्रविष्ट के समान ही प्रमाण रूप है, क्योंकि गणधर परम्परा के आचार्यों ने अंगप्रविष्ट ग्रन्थों को आधार बनाकर ही कालदोष से कम आयु, बल और बुद्धि वाले शिष्यों के हितार्थ दशवैकालिक आदि ग्रन्थों की रचना की। इसलिए इन ग्रन्थों की उतनी ही प्रामाणिकता है, जितनी गणधरों और श्रुतकेवलियों के द्वारा रचित सूत्रों की है, क्योंकि ये अर्थ की दृष्टि से सूत्र ही हैं, जैसे क्षीरसागर से घड़े में भरा हुआ जल क्षीरसागर के जल से भिन्न नहीं होता है वैसे ही अंगबाह्य अंगप्रविष्ट से भिन्न नहीं है। इन अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य आगम ग्रन्थों की उपलब्धि के विषय में जैन परम्पराओं में परस्पर मतभेद है। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा के अनुसार द्वादशांग में से दृष्टिवाद को छोड़कर अन्य ४५ आगम आज भी प्राप्य है। तथा श्वेताम्बर स्थानकवासी परम्परा के अनुसार आज वर्तमान समय में ३२ आगम प्रमाणभूत हैं। यद्यपि दोनों में आगमों की संख्या के विषय में परस्पर मतभेद है, किन्तु दोनों ही उनकी उपलब्धि के विषय में तो एक मत है। परन्तु इसके विपरीत दिगम्बर परम्परा का तो कहना है कि ये द्वादशांग आदि प्राचीन आगम आज वर्तमान समय में अप्राप्य हैं। इन आगमों के आधार से लिखे गये षट्खण्डागम, कषायपाहुड और कहाबन्ध तथा इन पर लिखी गई धवला और जयधवला आदि टीकाओं को आगम की ही भाँति वे प्रमाण भूत मानते हैं।

सिद्धर्षि ने जो लोकोत्तर के स्थान पर शास्त्रज्ञ को प्रमाण माना है, उस शास्त्रज्ञ प्रमाण का स्वरूप इस प्रकार है—जो आप्तोपज्ञ अर्थात् आप्त के द्वारा प्रथमतः ज्ञात होकर उपदिष्ट हुआ है, उल्लंघनीय नहीं है, दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष और इष्ट अर्थात् अनुमानादि का अविरोधी है, वस्तु के अर्थात् स्वरूप का प्रतिपादक है, सबके लिए हितकारक है और कुमार्ग का निराकरण करने वाला है, उसे शास्त्र कहते हैं। और इस प्रकार के शास्त्र से उत्पन्न जो ज्ञान है उसे शास्त्र प्रमाण कहते हैं।[२७] इस शास्त्रज्ञ प्रमाण के स्वरूप से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि लोकोत्तर और शास्त्रज्ञ में कोई विशेष अन्तर नहीं है, केवल शब्द के प्रयोग का अन्तर है। जैनदर्शन के अनुसार ये आगम या शास्त्र पौरुषेय हैं और इनका स्वतः प्रामाण्य है।

यह आगम प्रमाण जैन आगमिक परम्परा का श्रुतज्ञान ही है। अन्तर केवल इतना ही है कि श्रुतज्ञान इन अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य आगम ग्रन्थों तक ही सीमित रह जाता है किन्तु आगम प्रमाण तो इन आगमग्रन्थों तक ही सीमित नहीं रहता अपितु वह तो व्यवहार में भी अपने विषय में अविसम्वादी या अवंचक आप्त के वचनों से जो अर्थबोध होता है उसको भी आगम की मर्यादा में लेता है। श्रुतज्ञान ही आगम प्रमाण है इसलिए श्रुतज्ञान का स्वरूप भी जानना आवश्यक है। अतः अब जैन आगमिक परम्परा में श्रुतज्ञान का क्या स्वरूप रहा है? इसका निर्वचन किया जायेगा। जिससे श्रुतज्ञान ही आगम प्रमाण है यह जो कहा गया है, स्वतः स्पष्ट हो जायेगा।

श्रुतज्ञान

श्रुतज्ञान पर विचार करने से पूर्व श्रुत शब्द को जान लेना आवश्यक है। क्योंकि श्रुत को समझे बिना श्रुतज्ञान को नहीं जान सकते हैं। सामान्यतः श्रुत का अर्थ श्रवणं-श्रुतम् से सुनना है। यह संस्कृत के 'श्रु' धातु से निष्पन्न है। पूज्यपाद ने भी श्रुत का अर्थ श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम होने पर निरूप्यमाण पदार्थ जिसके द्वारा सुना जाता है, जो सुनना या सुनना मात्र है वह श्रुत है।[२८]

किन्तु श्रुत शब्द का व्युत्पत्यर्थ सुना हुआ होने पर भी जैनदर्शन में यह श्रुत शब्द ज्ञान विशेष में रूढ़ है। पूज्यपाद ने तो अपनी सर्वार्थसिद्धि में कहा है कि यह श्रुत शब्द सुनने रूप अर्थ का मुख्यता से प्रतिपादक होने पर भी रूढ़ि के कारण ज्ञान विशेष में ही रूढ़ है।[२९] तथा **'मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलानि ज्ञानम्'**[३०] इस सूत्र से भी ज्ञान शब्द की अनुवृत्ति चली आने के कारण भावरूप श्रवण द्वारा निर्वचन किया गया श्रुत का अर्थ श्रुतज्ञान है। केवल मात्र कानों से सुना गया शब्द ही श्रुत नहीं है।[३१] श्रुत का अर्थ ज्ञान विशेष करने पर जैनदर्शन में जो शब्दमय द्वादशांग श्रुत प्रसिद्ध है उसमें विरोध उपस्थित होता है क्योंकि श्रुत शब्द से ज्ञान को ग्रहण करने पर शब्द छूट जाते हैं। और शब्द को ग्रहण करने पर ज्ञान छूट जाता है, क्योंकि दोनों का एक साथ ग्रहण होना असम्भव है। इस पर जैन दार्शनिकों का कहना है कि उपचार से शब्दात्मक श्रुत भी श्रुत शब्द करके ग्रहण करने योग्य है। इसलिए सूत्रकार ने शब्द के भेद-प्रभेदों को बताया है कि यदि इनको श्रुत शब्द से ज्ञान ही इष्ट होता तो ये शब्द के होने वाले भेद-प्रभेदों को नहीं बताते।[३२] अतः जैनदार्शनिकों को मुख्यतः तो श्रुत से ज्ञान अर्थ ही इष्ट है किन्तु उपचार से श्रुत का शब्दात्मक होना भी उनको ग्राह्य है।

श्रुत के बाद अब हम श्रुतज्ञान पर आते हैं। उमास्वाति के पूर्व, शब्द को सुनकर जो ज्ञान होता था उसे श्रुतज्ञान कहा जाता था और उसमें मुख्य कारण होने से शब्द को भी उपचार से श्रुतज्ञान कहा जाता था।[३३] किन्तु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उमास्वाति को श्रुतज्ञान का इतना ही लक्षण इष्ट नहीं हुआ। इसलिए इन्होंने अपने तत्त्वार्थसूत्र में श्रुतज्ञान का एक दूसरा लक्षण किया है जिसके अनुसार श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है।[34] उमास्वाति के पश्चात्वर्ती जैन दार्शनिकों में नेमिचन्द्र सैद्धान्तिक को छोड़कर प्रायः सभी यह मानते हैं कि श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है। किन्तु इनका कहना है कि इतना कह देने से ही श्रुतज्ञान का स्वरूप पूर्णतः स्पष्ट नहीं होता है। इसलिए इन्होंने कुछ विशेषण और जोड़कर श्रुतज्ञान का लक्षण स्पष्ट किया है। जिनमें जिनभद्रगणि ने 'शब्दानुसारी' और 'अपने में प्रतिभासमान अर्थ का प्रतिपादन करने में समर्थ,' ये दो विशेषण और जोड़कर श्रुतज्ञान का लक्षण अपने विशेषावश्यकभाष्य में इस प्रकार किया है "इन्द्रिय और मन की सहायता से शब्दानुसारी जो ज्ञान होता है तथा जो अपने में प्रतिभासमान अर्थ का प्रतिपादन करने में समर्थ होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं।[35]

जिनभद्रगणि के इस लक्षण से यद्यपि अकलंक सहमत हैं किन्तु इन्होंने शब्द पर जिनभद्रगणि से अधिक बल दिया है। अकलंक का तो कहना है कि शब्दयोजना से पूर्व जो मति, स्मृति, चिन्ता, तर्क और अनुमान ज्ञान होते हैं वे मतिज्ञान हैं और शब्दयोजना होने पर वे ही श्रुतज्ञान हैं।[36] अकलंक ने श्रुतज्ञान का यह लक्षण करके अन्य दर्शनों में माने गये उपमान, अर्थापत्ति, अभाव, सम्भव, ऐतिह्य और प्रतिभा प्रमाणों का अन्तर्भाव श्रुत नाम में किया है और इनका यह भी कहना है कि शब्दप्रमाण तो श्रुतज्ञान ही है। इनके इस मत का विद्यानन्दी ने भी समर्थन किया है। परन्तु बाद के जैन दार्शनिकों को इनका शब्द पर इतना अधिक बल देना ठीक प्रतीत नहीं हुआ। यद्यपि वे भी इस बात को तो मानते हैं कि श्रुतज्ञान में शब्द की प्रमुखता होती है। इसीलिए अमृतचन्द्रसूरि ने श्रुतज्ञान का लक्षण करते हुए इतना ही कहा कि 'मतिज्ञान के बाद स्पष्ट अर्थ की तर्कणा को लिए हुए जो ज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञान है।'[37]

माधवाचार्य ने एक विशेषण और जोड़कर श्रुतज्ञान का लक्षण इस प्रकार किया है कि 'ज्ञान के आवरण के क्षय या उपशम हो जाने पर मतिज्ञान से उत्पन्न स्पष्ट ज्ञान श्रुतज्ञान है।[38] इनका अमृतचन्द्रसूरि से भेद यह है कि जहाँ अमृतचन्द्रसूरि ने मतिज्ञान के बाद स्पष्ट अर्थ की तर्कणा को लिए हुए ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा है वहां माधवाचार्य ने एक विशेषण और जोड़कर मतिज्ञान से उत्पन्न स्पष्ट ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा है। इस प्रकार शब्दों के हेर-फेर के कारण दोनों में भेद होने पर भी सूक्ष्म-दृष्टि से विचार करने पर इन दोनों में कोई मूलतः भेद दृष्टिगोचर नहीं होता है।

किन्तु नेमिचन्द्र सैद्धान्तिक ने तो श्रुतज्ञान का लक्षण इन सबसे एकदम भिन्न किया है। ये तो इस बात को ही नहीं मानते हैं कि श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है। इनके इसको न मानने का कारण शायद यह रहा होगा कि श्रुतज्ञान के अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक रूप से जो दो भेद हैं, उनमें अनक्षरात्मक श्रुत दिगम्बर परम्परा के अनुसार शब्दात्मक नहीं है और ऊपर श्रुतज्ञान की यह परिभाषा दी गयी है कि शब्द-योजना से पूर्व जो मति, स्मृति, चिन्ता, तर्क और अनुमान ज्ञान हैं वे मतिज्ञान है और शब्दयोजना होने पर वे श्रुतज्ञान हैं। इस परिभाषा को मानने पर मतिज्ञान और अनक्षरात्मकश्रुत में कोई भेद नहीं रह जाता है। इसीलिये इन्होंने श्रुतज्ञान का लक्षण इन सबसे भिन्न किया है। इनके अनुसार 'मतिज्ञान के विषयभूत पदार्थ से भिन्न पदार्थ के ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं।[39]

किन्तु श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है—इस कथन में कोई असंगति नहीं है, क्योंकि यह इस दृष्टि से कहा गया है कि श्रुतज्ञान होने के लिये शब्द-श्रवण आवश्यक है और शब्द-श्रवण मति के अन्तर्गत है, क्योंकि यह श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है। जब शब्द सुनाई देता है तब उसके अर्थ का स्मरण होता है। शब्द श्रवण रूप जो व्यापार है वह मतिज्ञान है, और उसके बाद उत्पन्न होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। मतिज्ञान के अभाव में श्रुतज्ञान नहीं हो सकता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि श्रुतज्ञान में मतिज्ञान मुख्य कारण है, क्योंकि मतिज्ञान के होने पर भी जब तक श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम न हो तब तक श्रुतज्ञान नहीं हो सकता है। मतिज्ञान तो इसका बाह्य कारण है।

अतः संक्षेप में श्रुतज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम होने पर मन और इन्द्रिय की सहायता से अपने में प्रतिभासमान अर्थ को प्रतिपादित करने में समर्थ स्पष्ट ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं।

श्रुतज्ञान के भेद

श्रुतज्ञान के कितने भेद हैं इस विषय में जैनाचार्यों में परस्पर मत भेद है। सभी ने अपने-अपने मत के अनुसार श्रुतज्ञान के भेदों को गिनाया है। श्रुतज्ञान के अंगप्रविष्ट और अंगबाह्यरूप से जो भेद हैं, ये दो भेद सभी जैनाचार्यों को मान्य हैं। इसलिए अब इन दो भेदों के अतिरिक्त जो भेद-प्रभेद जैनाचार्यों ने अपने अपने मतानुसार बताये हैं उन पर विचार किया जायेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आवश्यकनिर्युक्ति में कहा गया है कि जितने अक्षर हैं और उनके जितने संयोग हैं उतने ही श्रुतज्ञान के भेद हैं और इन सारे भेदों को गिनाना सम्भव नहीं है। इसलिए मुख्यरूप से श्रुतज्ञान के चौदह भेद हैं—

(१) अक्षर, (२) संज्ञी, (३) सम्यक्, (४) सादिक, (५) सपर्यवसित, (६) गमिक, (७) अंगप्रविष्ट, (८) अनक्षर, (९) असंज्ञी, (१०) असम्यक्, (११) अनादिक, (१२) अपर्यवसित (१३) अगमिक और (१४) अंगबाह्य[४०]। नन्दीसूत्र में इन चौदह भेदों का विस्तृत स्वरूप बतलाया गया है।[४१]

अकलंकदेव[४२] ने अपने प्रमाणसंग्रह नामक ग्रन्थ में श्रुतज्ञान के तीन भेद किये हैं—(१) प्रत्यक्षनिमित्तक, (२) अनुमाननिमित्तक, और (३) आगमनिमित्तक। किन्तु जैनतर्कवार्तिककार[४३] अकलंक द्वारा बताये श्रुत के तीन भेदों में से अनुमाननिमित्तक और आगमनिमित्तक ये दो ही भेद मानते हैं।

अमृतचन्द्रसूरि[४४] और नरेन्द्रसेनाचार्य[४५] ने विस्तार की अपेक्षा पर्याय आदि के भेद से श्रुतज्ञान के बीस भेद किये हैं। और नेमिचन्द्रसिद्धान्तिक चक्रवर्ती ने भी अपने गोम्मटसार के जीवकाण्ड में श्रुतज्ञान के बीस भेदों का उल्लेख किया है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—(१) पर्याय, (२) पर्यायसमास, (३) अक्षर, (४) अक्षरसमास, (५) पद, (६) पदसमास, (७) संघात, (८) संघातसमास, (९) प्रतिपत्तिक, (१०) प्रतिपत्तिकसमास, (११) अनुयोग, (१२) अनुयोगसमास, (१३) प्राभृतप्राभृत, (१४) प्राभृत प्राभृत-समास, (१५) प्राभृत, (१६) प्राभृतसमास, (१७) वस्तु, (१८) वस्तुसमास, (१९) पूर्व और (२०) पूर्वसमास।[४६] इनका स्वरूप जैनाचार्यों ने अपने-अपने ढंग से बतलाया है किन्तु इनके स्वरूप के विषय में परस्पर कोई मौलिक अन्तर नहीं। ये श्रुतज्ञान के बीस भेद दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओं को मान्य है, क्योंकि इन बीस भेदों का उल्लेख दोनों परम्पराओं के कर्म-साहित्य में मिलता है।

श्रुतज्ञान पांचों इन्द्रिय और मन से ज्ञात विषय का ही आलम्बन लेकर व्यापार करता है। इसलिये श्रुतज्ञान के अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक रूप से भी दो भेद गोम्मटसार में किये गये हैं।

गोम्मटसार के अनुसार अनक्षरात्मक और अक्षरात्मक श्रुतज्ञान का स्वरूप इस प्रकार है—

(१) श्रोत्रेन्द्रिय के अतिरिक्त शेष चार इन्द्रियों में से किसी भी इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाले मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान को अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहते हैं। और इस श्रुतज्ञान का दूसरा नाम लिंगश्रुतज्ञान भी है।

(२) श्रोत्रेन्द्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वक जो श्रुतज्ञान होता है उसे अक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहते हैं तथा इसको शब्दज श्रुतज्ञान भी कहते हैं। अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान की यही परिभाषा सर्वाधिक प्रचलित है।

अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक रूप से जो श्रुतज्ञान के दो भेद किये गये हैं इनका सबसे प्राचीन उल्लेख अकलंक के तत्त्वार्थवार्तिक में मिलता है। अकलंकदेव का कहना है कि स्मृति, तर्क, अनुमान आदि प्रमाणों के द्वारा जब ज्ञाता स्वयं जानता है उस समय वे अनक्षरश्रुत हैं जब वह इनके द्वारा दूसरों को ज्ञान कराता है तो वे अक्षरश्रुत हैं।

ऊपर जो अक्षर और अनक्षरश्रुत की परिभाषा दी गयी है उसकी अकलंकदेव के उक्त कथन के साथ संगति नहीं बैठती है। क्योंकि इनके अनुसार तो एक ही श्रुतज्ञान अनक्षरात्मक भी होता है और अक्षरात्मक भी होता है। जब तक वह ज्ञान रूप रहता है तब तक अनक्षरात्मक है और जब वह वचनरूप होकर दूसरे को ज्ञान कराने में कारण होता है तब वही अक्षरात्मक कहा जाता है।

यदि हम दोनों परिभाषाओं की तुलना करें तो दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। प्रचलित परिभाषा के अनुसार तो अक्षर के निमित्त से होने वाला श्रुतज्ञान अक्षरात्मक है और अकलंकदेव के अनुसार अक्षरोच्चारण में निमित्तज्ञान अक्षरात्मक है। परन्तु विचार करने पर दोनों ही श्रुतज्ञानों को अक्षरात्मक मानना उचित प्रतीत होता है। क्योंकि वास्तव में ज्ञान अक्षरात्मक नहीं होता है वह तो भाव रूप ही होता है और अक्षर द्रव्यरूप होता है। किन्तु ज्ञान अक्षर के निमित्त से उत्पन्न होता है इसलिये इसको (ज्ञान को) अक्षरात्मक कहते हैं। वैसे अक्षर के निमित्त के बिना जो जो श्रुतज्ञान होता है वह अनक्षरश्रुत है।

श्रुतज्ञान के अनक्षरात्मक और अक्षरात्मक रूप से जो दो भेद किये गये हैं वे श्वेताम्बर परम्परा को भी मान्य हैं किन्तु इनके स्वरूप के विषय में दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा में आंशिक मतभेद है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार अक्षर और अनक्षरश्रुत ये दोनों ही शब्दज हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि अक्षरात्मक श्रुतज्ञान अक्षरात्मक शब्द से उत्पन्न होता है और अक्षरात्मक श्रुतज्ञान अनक्षरात्मक शब्द से उत्पन्न होता है। किन्तु दिगम्बर परम्परा में शब्दज श्रुतज्ञान को अक्षरात्मक और लिंगज को अनक्षरात्मकश्रुत माना गया है। यद्यपि यह बात तो दिगम्बर परम्परा भी मानती है कि श्रुतज्ञान में शब्द की प्रधानता होती है। और गोम्मटसार के जीवकाण्ड में तो स्पष्टतया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिखा है कि—श्रुतज्ञान के शब्दज और लिंगज ये दो भेद हैं किन्तु इनमें शब्दज की ही प्रमुखता है।[४७] परन्तु दोनों ही श्रुत शब्दज होते हैं यह बात दिगम्बर परम्परा को मान्य नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैनाचार्यों ने अपने-अपने ढंग से श्रुतज्ञान के भेद किये हैं। उन सब में श्रुतज्ञान के अक्षर और अनक्षर रूप से जो दो भेद किये गये हैं, अधिक प्राचीन और सर्वाधिक प्रचलित प्रतीत होते हैं। क्योंकि श्रुतज्ञान के इन दो भेदों का उल्लेख किसी न किसी रूप में सभी जैनाचार्यों ने किया है। आवश्यकनिर्युक्ति[४८] और नन्दीसूत्र[४९] में भी जो **अक्खरसन्नी सम्मं**······आदि चौदह श्रुत के भेद सर्वप्रथम देखने को मिलते हैं, वे सभी किसी प्राचीन दिगम्बर ग्रन्थ में देखने को नहीं मिलते हैं। यहाँ तक कि प्रथम प्रयत्न के फलस्वरूप माना जाने वाला अंग-प्रविष्ट और अंग-बाह्यश्रुत भी दूसरे प्रयत्न के फलस्वरूप मुख्य अक्षर और अनक्षरश्रुत में समा जाता है। यद्यपि अक्षरश्रुत आदि चौदह प्रकार के श्रुत का निर्देश आवश्यकनिर्युक्ति और नन्दीसूत्र के पूर्ववर्ती ग्रन्थों में नहीं देखा जाता है, फिर भी उन चौदह भेदों के आधारभूत अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक-श्रुत की कल्पना तो प्राचीन ही प्रतीत होती है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं के कर्म-साहित्य में समान रूप से वर्णित श्रुत के बीस प्रकारों में भी अक्षरश्रुत का निर्देश है।

अतः श्रुतज्ञान के कितने भेद हैं इस विषय में जैनाचार्यों में परस्पर मतभेद होते हुए भी कोई मौलिक भेद नहीं है।

श्रुतज्ञान का प्रामाण्य

जैनाचार्यों ने श्रुतज्ञान को प्रमाण न मानने वाले चार्वाक, बौद्ध आदि दार्शनिकों का खण्डन किया है। उनका कहना है कि इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ प्रत्यक्ष ज्ञान जैसे अपने और अपने विषय के जानने में संवादी होने के कारण भी प्रमाण रूप माना जाता है। उसी प्रकार स्व और अर्थ के जानने में सम्वादी होने के कारण श्रुतज्ञान भी प्रमाण रूप है। तथा जैन दार्शनिकों का यह भी कहना है कि चार्वाकों और बौद्धों के अपने शास्त्र हैं और उनको पढ़कर उनको जो ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान से भिन्न ज्ञान नहीं है। उनका यह भी कहना है कि इस शब्दजन्य श्रुतज्ञान के अभाव में गूंगे और वाग्मी में कोई विशेषता नहीं रहेगी क्योंकि मूर्ख को पण्डित बताने में या बालक को उत्तरोत्तर ज्ञानशाली बताने में शब्द ही प्रधान कारण है। जैनाचार्यों का कहना है कि कहीं कहीं विसम्वाद हो जाने के कारण यदि सभी श्रुतज्ञानों को अप्रमाण ठहराया जायेगा तो सीप में चांदी का ज्ञान होना, एक चन्द्रमा को दो जान लेना आदि प्रत्यक्षों के अप्रमाण हो जाने से सभी प्रत्यक्ष अप्रमाण हो जायेंगे, यह ठीक है कि प्रत्यक्षाभास के समान श्रुताभास भी मान लिया जाय, किन्तु उनका श्रुतज्ञान को एकदम अप्रमाण ठहराना कदापि उचित नहीं है।

अतः उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि अन्य प्रमाणों के समान श्रुतज्ञान भी एक स्वतन्त्र प्रमाण है। और यदि इसको प्रमाण न माना जायेगा तो लोक व्यवहार चलना भी मुश्किल हो जायगा। क्योंकि व्यवहार में भी एक दूसरे के वचनों पर विश्वास करके ही कार्य किया जाता है।[१]

श्रुतज्ञान का महत्व

श्रुतज्ञान ही एक ऐसा ज्ञान है जो ज्ञानरूप भी है और शब्दरूप भी है। इसे ज्ञाता स्वयं भी जानता है और दूसरों को भी ज्ञान कराता है। वैसे शब्द प्रमाण तो श्रुतज्ञान ही है, किन्तु अन्य दर्शनों में माने गये उपमान, अर्थापत्ति, अभाव, ऐतिह्य, सम्भव और प्रतिभा प्रमाणों का भी शब्द योजना होने पर श्रुतज्ञान में ही अन्तर्भाव हो जाता है।[२] श्रुतज्ञान के द्वारा ही पूर्वज, तीर्थंकरों, गणधरों और इनके उतरोत्तर आचार्यों, शिष्य प्रशिष्यों का ज्ञान प्रवाहित होता है। इसको कोई श्रुत, कोई श्रुति और कोई आगम कहते हैं। ✡

संदर्भ स्थल :

१ (क) पंचविहे णाणे पण्णत्ते तं जहा—आभिणिबोहियणाणे, सुयणाणे, ओहिणाणे, मणपज्जवणाणे केवलणाणे।

—स्थानांगसूत्र, स्थान ५, उद्देशक ३, सूत्र ४६३

(ख) अनुयोगद्वार सूत्र १

(ग) नन्दीसूत्र १

(घ) भगवतीसूत्र शतक ८, उद्देशक २, सूत्र ३१८

२ दुविहे णाणे पण्णत्ते, तं जहा—पच्चक्खे चेव परोक्खे चेव। पच्चक्खे णाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—केवलणाणे चेव नोकेवलणाणे चेव।·········णोकेवलणाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—ओहिणाणे चेव मणपज्जवणाणे चेव, परोक्खेणाणे दुविहेपण्णत्ते, तं जहा-आभिणिबोहियणाणे चेव सुयणाणे चेव। **—स्थानांग स्थान २, उद्देशक १, सूत्र १७**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३ (क) मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानिज्ञानम् । —तत्वार्थ सूत्र १. ९.
(ख) आद्ये परोक्षम् ।—वही, १. ११.
(ग) प्रत्यक्षमन्यत् ।—वही, १. १२.
४ मतिःस्मृतिःसंज्ञाचिन्ताऽभिनिबोध इत्यर्थान्तरम् ।—वही, १. १३.
५ एंगतेण परोक्खं लिंगियमोहाइयं च पच्चक्खं ।
इंदियमणो भवं जं तं संववहारपच्चक्खं ॥ —विशे. आ. भा. गा. ९५, भा. १ पृ० २४
६ कारिका ३. १०.
७ (क) आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः । उपचारादाप्तवचनं च ।
—प्रमाणनय तत्त्वालोक ४. १-२, पृष्ठ ३५, जैनतर्क भाषा पृष्ठ ६
(ख) आप्तवचनाज्जातमर्थज्ञानमागमः, उपचारादाप्तवचनं च ।
—षड्दर्शन समुच्चय (जैनदर्शन) का. ५५. ३२० पृष्ठ ३२७
(ग) आप्तवचनादिजनितपदार्थज्ञानम् आगमः । तद् वचनमपि ज्ञानहेतुत्वादागमः । —प्रमाण प्रमेय १, १२३
८ आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः ।—परीक्षामुख०, ३, ९९
९ दृष्टेष्टाव्याहताद्वाक्यात्परमार्थाभिधायिनः । तत्वाग्राहितयोत्पन्नं मानं शाब्दं प्रकीर्तितम् ।—न्यायावतार कारिका ८
१० वपगयअसेसदोसो सयलगुणप्पा हवे अत्तो ।—नियमसार गाथा ५, पृ० ११
११ आप्तः शंकारहितः । शंकाहि सकलमोहरागद्वेषादयः ।—वही, टीका
१२ आप्तेनोत्सन्न-दोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना ।
भवितव्यं नियोगेन नाऽन्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥—रत्नकरण्डउपासकाध्ययनकारिका ५, पृ० ३७
१३ क्षुत्पिपासा-जरातंक-जन्मान्तक-भय-स्मयाः ।
न राग-द्वेष-मोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्यते (प्रदोषमुक्) ॥—वही, ६, पृ० ३९
१४ द्रष्टव्य-आप्तमीमांसा, कारिका ६, पृ० १०
१५ सोऽत्र भवान्नर्हन्नेव, अन्येषां न्यायागमविरुद्धः ।
१६ सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः ।
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन् परमेश्वरः ॥
१७ परमेष्ठी परंज्योतिर्विरागो विमलः कृती ।
सर्वज्ञोऽनादिमध्यान्तः सार्वः शास्तोपलाल्यते ॥—रत्नक० उपा०, का. ७, पृ० ४०
१८ यो यत्राविसंवादकः स तत्राप्तः, ततः परोऽनाप्तः । तत्वप्रतिपादनमविसंवादः, तदर्थज्ञानात् ।
—अष्टशती अष्टसह पृ० २३६
१९ अभिधेयं वस्तु यथावस्थितं यो जानीते यथाज्ञानं चाभिधत्ते स आप्तः तस्य हि वचनमविसंवादि भवति ।
—प्र० न० त० लो० अ० ४. ४-५, पृ१ ३७
२० अभिधेयं····, स आप्तो जनकतीर्थंकरादिः ।—षड्० समु० (जै०) का. ५५. ३२०
२१ आप्यते प्रोक्तोऽर्थोऽस्मादित्याप्तः । यद्वा आप्तोरागादिदोषक्षयः सा विद्यते यस्येत्यर्शआदित्वादिति आप्तः । जानन्नपिहि रागादिमान् पुमानन्यथाऽपि पदार्थानकथयेत तद्व्यवच्छित्तये यथाज्ञानमिति । तेनाक्षरविलेखनद्वारेण, अंकोपदर्शनमुखेन, करपल्लवव्यादिचेष्टाविशेषवशेन वा शब्दस्मरणाः परोक्षार्थविषयंविज्ञानं परस्योत्पादयति, सोऽप्याप्त इत्युक्त भवति ।—प्र० न० त० लो० अ० ४. ४-५, पृ० ३७
२२ यो यत्रावंचकः स तत्राऽप्तः ।—प्रमेयरत्न माला ३. ९५. पृ० २०४
२३ द्र०—प्र०प्रमे. १. १२३, पृ० ११७
२४ द्र०—जैनतर्कभाषा, पृ० ६.
२५ स च द्वेधा लौकिको, लोकोत्तरश्च ।—प्र० न० त० लो० अ० ४. ६.
२६ लौकिको जनकादिर्लोकोत्तरस्तु तीर्थंकरादिः ।—वही, ४. ७.
२७ आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्यमदृष्टेष्टविरोधकम् ।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥ —न्यायावतार. का०. ९, पृ० ५८
२८ (क) तदावरणकर्मक्षयोपशमे सति निरूप्यमाणं श्रूयते अनेन शृणोति श्रवणमात्रं वा श्रुतम् ।
—सर्वार्थसिद्धि १. ९. पृ० ६६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ख) श्रुतशब्दः कर्मसाधनश्च ।२। किं च पूर्वोक्तविषयसाधनश्चेति वर्तते । श्रुतावरणक्षयोपशमाद्यन्तरंगबहिरंग हेतु सन्निधाने सति श्रूयते स्मेति श्रुतम् । कर्तरि श्रुतपरिणत आत्मैव शृणोतीति श्रुतम् । भेदविवक्षायां श्रूयतेऽनेनेति श्रुतम्, श्रवणमानं वा । **—तत्त्वार्थवार्तिक** १. ६. २, पृ० ४४.

(ग) श्रुतावरणविश्लेषविशेषाच्छ्रवणं श्रुतम् । **—तत्त्वार्थ श्लो.** वा. ३. ६. ४

२६ श्रुतशब्दोऽयं श्रवणमुपादाय व्युत्पादितोऽपि रूढ़िवशात् कस्मिंश्चज्ज्ञानविशेषे वर्तते । **—सर्वा० सि०** १. २० पृ० ८३.

३० द्रष्टव्यः **—तत्त्वार्थसूत्र** १।२०

३१ ·········ज्ञानमित्यनुवर्तनात् । श्रमणं हि श्रुतज्ञानं न पुनः शब्दमात्रकम् । **—त०. श्लोक.** अ. ३. २०. २०, पृ० ५६८.

३२ तच्चोपचारतो ग्राह्यं श्रुतशब्दप्रयोगतः ।
शब्दभेदप्रभेदोक्तः स्वयं तत्कारणत्वतः ॥ **वही**—३. २०. ३, पृ० ५६०.

३३ श्रवणं श्रुतम्, आभिलापप्लावितार्थग्रहणस्वरूप उपलब्धिविशेषः श्रुतं च तद्ज्ञानं च श्रुतज्ञानम् अथवा श्रूयते इति श्रुतं शब्दः, स च असौ कारणे कार्योपचाराद् ज्ञानं च श्रुतज्ञानं शब्दो हि श्रोतुं साभिलापज्ञानस्य कारणं भवतीति सोऽपि श्रुतज्ञानमुच्यते । **—अनुयोगद्वार सूत्र** १.

३४ श्रुतं मतिपूर्वकं········। **—तत्त्वार्थ सू०** १. २०.

३५ इंदियमणोणिमित्तं जं विण्णाणं सुताणुसारेणं ।
णिअयत्थु त्ति समत्थं तं भावसुतं मति सेसं ॥ **—विशेषावश्यक भाष्य**, भाग १, गा. ६६.

३६ ज्ञानावरणक्षयोपशमे सति मतिजनितं स्पष्टंज्ञानं श्रुतम् । **—सर्वदर्शन सं०** (आर्ह०), पृ० १३८

३७ ज्ञानमाद्यं मतिः संज्ञा चिन्ता चाभिनिबोधिकम् ।
प्राङ् नामयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात् ॥ **—लघीयस्त्रय, का०** १०

३८ मतिपूर्वं श्रुतं प्रोक्तमाविस्पष्टार्थ तर्कणम् । **—तत्त्वार्थ सार, का०** २४

३९ अत्थादो अत्थंतरसुवलंभंतं भणंति सुदणाणं । **—गोम्मट सार (जीव काण्ड) गाथा** ३६, पृ० १७४

४० द्रष्टव्य—आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १७-१६

४१ नन्दीसूत्र ३८

४२ श्रुतमविप्लवं प्रत्यक्षानुमानागमनिमित्तम् । **—प्रमाण संग्रह**, पृ० १

४३ जैन तर्कभाषा, पृ० ७४

४४ तत्पर्यायादिभेदेन व्यासाद्विशतिधा भवेत् । **—त० सा० का०** २४, पृ० ६

४५ परं विंशतिभेद यत्पर्यायाद्याभिधानतः ।
श्रुतं तदपि वक्ष्येऽहं यथाशक्ति····· । **—सिद्धान्तसार संग्रह का०** १५

४६ द्र०—(जी० का०)
(क) गौ० सा० (जीव काण्ड) गा० ३१७-६७
(ख) सिद्धान्त सार संग्रह १५१-६४, पृ० ३६-३६

४७ णियमेणिह सद्दजं पमुहं । **—गो० सा० (जीवकाण्ड) गा०** १३५

४८ द्र० गाथा १६

४९ द्र०—सूत्र ३७

५० द्रष्टव्य—
(क) देवेन्द्र मुनि, जैनदर्शन-स्वरूप और विश्लेषण
(ख) नथमल मुनि, जैनदर्शन—मनन और मीमांसा आदि

५१ (क) आगमत्वं पुनः सिद्धमुपमानं श्रुतं यथा ।
सिंहासने स्थितो राजेत्यादिशब्दोत्थवेदनमं । **—त० श्लो० वा०** अ०, ३ २० १२४
(ख) उत्तरप्रतिपत्याख्या प्रतिभा च श्रुतं मता ।
नाभ्यासजासुसंवित्तिः कूटद्रुमादिगोचरा । **—वही, पृष्ठ** ६६१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org